व्याकरण एवं वैदिक व्याख्या-पद्धति

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश।। ऋग्वेद, 4.58.6।

पदपाठ के नियम

वैदिक मंत्रों में दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं– **संहितापाठ** और **पदपाठ**। मन्त्रों का प्रकृत उपलब्ध पाठ **'संहिता-पाठ'** कहलाता है। यथा–**"ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।"** 10/97/22। इस पाठ के प्रत्येक पद का विच्छेद होने पर यही **'पदपाठ'** कहा जाता है। पदपाठ में पद तो वे ही रहते हैं, परन्तु स्वरों में पर्याप्त अन्तर आ जाता है, यथा–**"ओषधयः सं। वदन्ते। सोमेन। सह राज्ञा।"** संहितापाठ की सुरक्षा के लिये ऋषियों ने पदपाठ की पद्धति अपनायी है।

संहितापाठ को पदपाठ में परिणत करने के लिए निम्नलिखित नियम हैं:

1. **सामान्य पद-सम्बन्धी नियम**–(i) संहितापाठ में विद्यमान सन्धियों का विच्छेद करके अलग-अलग रखना चाहिए और प्रत्येक पद के बाद पूर्ण विराम (।) का चिह्न लगाना चाहिए। संहितापाठ के अनुस्वार को पदपाठ में 'म्' के रूप में परिवर्तित किया जाता है। यथा-

संहितापाठ= **अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।**

पदपाठ= **अग्निम् ईळे। पुरःऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्।**

(ii) संहिता पाठ में पाये जाने वाले छान्दस, दीर्घ को पदपाठ में ह्रस्व कर देना चाहिये। यथा–

संहितापाठ= **रक्षा च नो** - ऋग्वेद -/35/11

पदपाठ= **रक्ष। च। नः।**

2. **अवग्रह-सम्बन्धी नियम** :

(i) भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सु, त्व, तरप्, तमप्, वडप्, मतुप्, क्वसु, क्यच्, क्यङ्, क्यप् आदि प्रत्ययों के पूर्व अवग्रह (ऽ) लगता है।

(ii) द्वन्द्वसमास तथा नञ्समास को छोड़कर समासयुक्त पदों के बीच में अवग्रह (ऽ) लगता है। यथा–**विश्वऽवेदसे। भूरिऽशृङ्गा इव।**

(iii) उपसर्ग के बाद कृदन्त या संज्ञा शब्द हो तो उनके बीच में अवग्रह (ऽ) लगता है। यथा–**प्रऽज्ञा। सुऽशिप्रः। विऽभुः।**

(iv) यदि प्रकृति में कोई विकार न हुआ तो प्रत्यय तथा विभक्ति के पूर्व अवग्रह (ऽ) लगता है। यथा–**हरिऽभ्याम्। चतुःऽभिः। अप्ऽसु। देवऽत्वम्। तस्थिऽवांसम्। ऋतुऽया।**

(v) यदि उपसर्ग और प्रत्यय दोनों एक साथ हो तो प्रत्यय के पूर्व अवग्रह (ऽ) लगता है। यथा–**आतस्थिऽवांसौ।**

(vi) यदि किसी शब्द के साथ इव लगा हो तो इव के पूर्व अवग्रह (ऽ) लग जाता है। यथा–**प्रवर्धिनीऽइव।**

3. इतिकरण-सम्बन्धी नियम:

(i) प्रगृह्यसंज्ञक ई, ऊ, ए के बाद 'इति' लगाया जाता है। यथा–**क्रन्दसी इति। द्यावापृथिवी इति। इन्द्रवायू इति। तस्तभाने इति।**

(ii) 'उ' निपात को दीर्घ तथा अनुनासिक करके (ऊँ) 'इति' लगाया जाता है। यथा–3=ऊँ इति।

(iii) ओकारान्त निपात के बाद भी 'इति' लगता है। यथा–**अथो इति। इन्द्रो इति। एषो इति।**

(iv) सप्तम्यन्त पद में प्रयुक्त ई, ऊ के बाद 'इति' लगता है। यथा–**सरसी इति। रोदसी इति।**

(v) अस्मे, युष्मे, त्वे आदि के बाद भी 'इति' लगता है। यथा–**अस्मे इति। युष्मे इति।**

(vi) संहितापाठ में सन्धि-नियम के कारण यदि विसर्ग को 'र्' न हो सका हो तो पदपाठ में उसके आगे 'इति' लगाकर विसर्ग को 'र्' कर दिया जाता है। यथा–**अन्तः=अन्तरिति। सवितः=सवितरिति।**

(vii) यदि सम्बोधन के अन्त में 'ओ' आवे तो उसके बाद 'इति' लगाया जाता है। यथा–**विष्णो इति। भानो इति।**

4. परिग्रह-सम्बन्धी नियम:

(i) जब कोई पद इतिकरण से युक्त होता है, तो उसकी **उपस्थित** संज्ञा होती है। ऐसे उपस्थित संज्ञक पदों के इतिकरण के बाद जब मूल पद की आवृत्ति की जाती है, तो उन सभी पदों की **स्थितोपस्थित** संज्ञा होती है। इसी को **परिग्रह** भी कहा जाता है। इसका प्रयोजन पद के प्रकृतिरूप को स्पष्ट करना है। ऋग्वेद का पदपाठ करते समय परिग्रह-सम्बन्धी निम्नोक्त नियमों को ध्यान में रखना चाहिये–

(i) प्रगृह्य संज्ञक स्वरों में अन्त होने वाले समास पद के प्रगृह्यत्व को इतिकरण द्वारा दिखाने के बाद समास पद की पुनः आवृत्ति की जाती है और इस आवृत्त पद में समास के दोनों पदों के बीच अवग्रह का प्रयोग किया जाता है- यथा–

संहितापाठ= **यं क्रन्दसी संयती विह्वयैते - ऋग्वेद-2/12/8**

पदपाठ= **यम्। क्रन्दसी इति। संयती इति सम्ऽयती। विह्वयेते इति विऽह्वयेते।**

किन्तु द्वन्द्व समास में अवग्रह (ऽ) नहीं लगता–'इसलिये प्रगृह्य होने पर केवल इनके साथ इतिकरण होता है। इतिकरण के बाद आवृत्ति नहीं होती। यथा–**क्रन्दसी इति। द्यावापृथिवी इति।**

(ii) प्रगृह्यसंज्ञक पदों के साथ 'इव' का समास होने पर 'इति' लगाकर दुहराया जाता है और आवृत पद में 'इव' के पूर्व अवग्रह (ऽ) लग जाता है। यथा–**दम्पती इव इति-दम्पतीऽइव।**

(iii) यदि क्रियापद के साथ विसर्ग के स्थान पर रेफ न हो सका हो तो पदपाठ में 'इति' लगाकर दुहराया जाता है। यथा–**अकरित्यकः। स्युरिति स्युः।**

(iv) स्वः के बाद भी 'इति' लगाकर दुहराया जाता है। यथा–**स्वरिति स्वः।**

(v) प्लुत होने के कारण जहाँ दीर्घस्वर हुआ हो तो 'ह्रस्व' कर दिया जाता है। यथा–**अच्छावद=अच्छवद।**

विशेष– (क) ऋग्वेदसंहिता में पदपाठ में अवग्रह (ऽ) दिखाने के लिए शब्दों की आवृत्ति नहीं की जाती है, किन्तु

यजुर्वेद में अवग्रह (ऽ) दिखाने के लिए शब्दों की आवृत्ति की जाती है। यथा–**श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय। ऊँऽइत्यूँ। स्वयंभूरिति स्वयम्ऽभूः।**

(ख) अथर्ववेद में पदपाठ ऋग्वेद के समान होता है, किन्तु इनमें अवग्रह के स्थान पर बिन्दु (०) लगता है। यथा–त्रि० सप्त।

(ग) सामवेद में केवल शब्दों को ही अलग नहीं किया जाता है, बल्कि पदांशों का भी पदच्छेद किया जाता है। यथा–**हव्य दातये हव्यदातये।**

स्वर : उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित

वेदों के अध्ययन में स्वर-शास्त्र का विशेष महत्व है; क्योंकि वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण एवं अर्थबोध के लिए स्वरों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। किसी शब्द के किसी अक्षर को स्वर में पढ़े जाने पर ही उस शब्द के अर्थ का निर्णय होता है। यदि किसी शब्द के अक्षर के स्वर को बदल दिया जाये, तो उसका अर्थ परिवर्तित हो जाता है। यथा–**'इन्द्रशत्रुः'** शब्द है। इसमें दो पद हैं–इन्द्र और शत्रु। यदि आदि पद को उदात्त समझा जावे, तो इसका विग्रह बहुव्रीहि समास में **'इन्द्रः शत्रुः यस्य सः'** होगा अर्थात् "इन्द्र उसको मारने वाला होगा।" यदि अन्तिम पद को उदात्त माना जावे तो इसका विग्रह तत्पुरुष समास में **'इन्द्रस्य शत्रुः'** होगा, जिसका अर्थ होगा– इन्द्र को मारने वाला। इस प्रकार स्वर के परिवर्तन से अर्थ परिवर्तित हो जाता है। अतः वेदार्थ को समझने के लिए स्वरों का ज्ञान अनिवार्य है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के अनुसार वेदों के अर्थों को समझने के लिए वर्ण, स्वर, मात्रा, बल– इन सबको जानना चाहिए–**"वर्णः स्वरः मात्रा बलम् इत्येतज्जिज्ञासितव्यम्।"**

स्वर के प्रकार–वैदिक वाङ्मय में मुख्यतः तीन स्वर मान्य हैं–**उदात्त, अनुदात्त** और **स्वरित**। इनका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

(1) **उदात्त='उच्चैरुदात्तः'**। कण्ठ, तालु आदि सखण्ड स्थानों के ऊपर के भाग से जिस स्वर का उच्चारण होता है, वह उदात्त कहलाता है।

(2) **अनुदात्त='नीचैरनुदात्तः'**। कण्ठ तालु आदि सखण्ड स्थानों के नीचे के भाग से उच्चरित स्वर 'अनुदात्त' कहलाता है।

(3) **स्वरित='समाहारः स्वरितः'**। उदात्तत्व और अनुदात्तत्व दोनों धर्मों का मेल जिस वर्ण में होता है, वह स्वरित होता है। इस प्रकार स्वरित में उदात्त और अनुदात्त दोनों स्वरों के धर्म का मिश्रण होता है।

स्वरित दो प्रकार का होता है–**स्वतन्त्र** और **आश्रित**। स्वतन्त्र स्वरित के भी दो भेद हैं–**संधिज** और **असंधिज**। संधिज स्वरित तीन प्रकार का होता है–**क्षैप्र, प्रश्लिष्ट** और **अभिनिहित**। असंधिज स्वरित एक ही प्रकार का होता है और वह **जात्य-स्वरित** या **नित्य-स्वरित** के नाम से पुकारा जाता है।

आश्रित स्वरित भी 5 प्रकार का है–**पादवृत्त, प्रातिहत, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम** और **तायाभाव्य**। इनमें अन्तिम दो अर्थात् तैरोविराम और तायाभाव्य की सत्ता यजुर्वेद के पदपाठ में ही है। इन स्वरितों को निम्नांकित तालिका द्वारा दर्शाया जा सकता है–
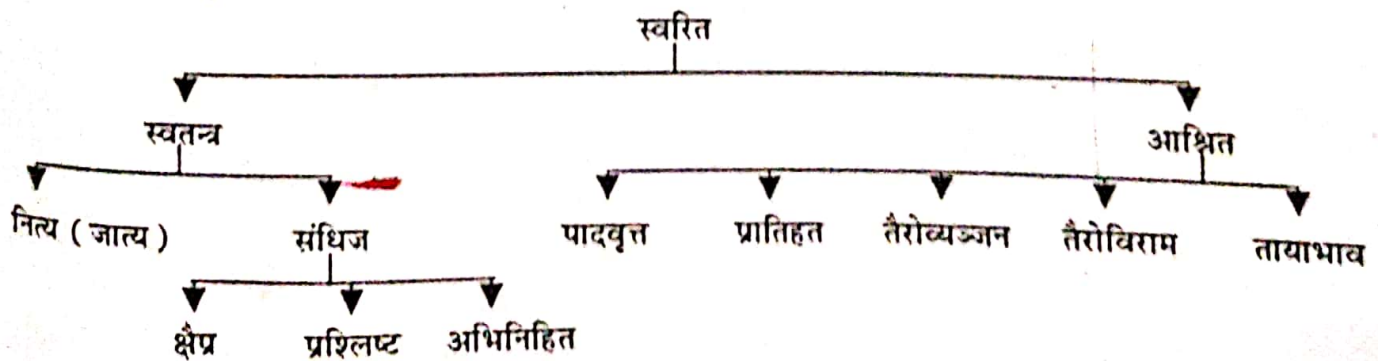
1. **नित्य या जात्य स्वरित**–एक पद में नित्य रूप से पाये जाने वाले स्वरित को नित्य स्वरित कहते हैं। पद में स्वभावतः होने के कारण इसको जात्य स्वरित भी कहा जाता है। यथा– **क्व वीर्याणि।**

2. **प्रश्लिष्ट स्वरित**–उदात्त-धर्मवान् पूर्वपदान्तीय ह्रस्व 'इ' तथा उत्तरपदादि अनुदात्त-धर्मवान् ह्रस्व 'इ' की संधि से जो स्वरित उत्पन्न होता है। वह प्रश्लिष्ट स्वरित कहलाता है। यथा– **स्रुचीव=स्रुचि + इव, दिवीव=दिवि + इव।**

3. **अभिनिहित स्वरित**–उदात्त-धर्मवान् पूर्वपदान्तीय 'ए' तथा 'ओ' के साथ अनुदात्त-धर्मवान् उत्तरपदादि 'अ' की जो अभिनिहित-पूर्वरूप संधि होती है, उसमें संधिज स्वर स्वरित होता है और वह अभिनिहित स्वरित कहलाता है। यथा– **तेऽवर्धन्त=ते + अवर्धन्त, सोऽधमः=स+अधमः।**

4. **क्षैप्र स्वरित**–उदात्त-धर्मवान् पूर्व पदान्तीय 'इ' तथा 'उ' की अनुदात्त-धर्मवान् उत्तरपदादि असमान अच् के साथ जो क्षैप्र (यण्) संधि होती है, उसमें संधिज स्वर सर्वत्र स्वरित होता है और वह क्षैप्र स्वरित कहलाता है। यथा– **ह्यग्ने=हि+अग्ने, न्विन्द्र=नु+इन्द्र।**

5. **आश्रित स्वरित**–उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त **"उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"** पाणिनि–8/4/67 इस स्वर-नियम के अनुसार स्वरित में परिवर्तित हो जाता है, यदि उसके आगे कोई उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित न हो। वह स्वरित पूर्ववर्ती उदात्त पर आश्रित होने के कारण **आश्रित-स्वरित** कहलाता है। यथा– **चकार, इन्द्रः।**

स्वराङ्कन प्रकार :

1. **उदात्त**– ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद–तीनों में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगता है। यथा– **इन्द्रः (इ), अग्निः (निः)।**

2. **अनुदात्त**–ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद–तीनों में अनुदात्त को वर्ण के नीचे एक पड़ी रेखा से चिह्नित करते हैं। यथा– **अग्निः (अ), चकार (च)।**

3. **स्वरित**–ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में आश्रित स्वरित को वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है, यथा– **इन्द्र (द्रं), चकार (रं)।** ऋग्वेद में स्वतन्त्र स्वरित को भी वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है। यथा– **क्व, वीर्याणि।** अथर्ववेद में स्वतन्त्र स्वरित को, यदि उसके आगे कोई उदात्त स्वर न हो तो, (⌠) इस चिह्न से अंकित किया जाता है। यथा–व्यो⌠मिन्, तन्व⌠ः। यजुर्वेद में उदात्त परे न होने पर स्वतन्त्र स्वरित वर्ण के नीचे को (L) इस चिह्न से अंकित किया जाता है। यथा–**वायव्यान्।** स्वतन्त्र स्वरित के बाद यदि उदात्त या स्वतन्त्र स्वरित आवे तो स्वरित के उच्चारण में इस कम्प को १ या ३ के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यदि स्वतंत्र स्वरित ह्रस्व वर्ण परे है तो उसे १ के द्वारा तथा यदि दीर्घ वर्ण पर है, तो ३ के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। दोनों अवस्थाओं में अंक के ऊपर खड़ी रेखा तथा नीचे पड़ी रेखा होती है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि ह्रस्व कम्प में स्वरित वाला वर्ण अचिह्नित रहता है, जबकि दीर्घ कम्प में स्वरित वर्ण के नीचे भी पड़ी रेखा होती है। यथा– **अप्स्व१न्तः पस्त्या३स्वा** इत्यादि। अथर्ववेद में ह्रस्व कम्प को १ के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यहाँ अंक के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न न लगाकर स्वतन्त्र स्वरित वाले वर्ण पर लगाते हैं। यथा– **अप्स्व१न्तः।** यजुर्वेद में कम्प नहीं होता, किन्तु उदात्त परे होने पर स्वतन्त्र स्वरित को वर्ण के नीचे (–) इस चिह्न से अंकित किया जाता है। यथा– **तन्वा शन्तमया।**

सामवेद के स्वर– ऋग्वेद में जो स्वर चिह्नों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, सामवेद में वही अंकों द्वारा दिखाया जाता है। ऋग्वेद में उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं लगता है, किन्तु सामवेद में उदात्त के लिए 1 का अंक लगता है। ऋग्वेद में स्वरित के लिए ऊपर खड़ी रेखा (।) लगायी जाती है, सामवेद में स्वरित के लिए 2 का अंक लगता है। ऋग्वेद में अनुदात्त के लिए नीचे पड़ी रेखा (–) लगती है और सामवेद में उसके लिए 3 का अंक लगता है। यथा– **अग्न आ याहि वीतये।**

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर

भारतीय भाषाओं में विकास-क्रम का अध्ययन करते समय उनके समग्र विकास को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है–

1. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा युग = वैदिक युग से 500 ई०पू० तक।
2. मध्यकालीन आर्यभाषा युग = 500 ई०पू० से 1000 ई०पू० तक।
3. आधुनिक आर्यभाषा युग = 1000 ई०पू० से अब तक।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा युग की भाषा का प्रत्यक्षीकरण ऋग्वेद की भाषा में होता है। इस काल की भाषा का विकास यजुः–साम–अथर्ववेद एवं सूत्रग्रन्थों तक हुआ है। इसको वैदिक संस्कृत के नाम से अभिहित किया जाता है। मध्यकालीन आर्यभाषा युग में एक ओर वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया है, तो दूसरी ओर उसको एकरूपता प्रदान की गई जिसके परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक भाषा का विकास हुआ, इसी को **लौकिक संस्कृत** कहा जाता है।

वैदिक संस्कृत– वैदिक संस्कृत को 'वैदिक', 'वैदिकी', 'छन्दस्', 'छान्दस' भी कहा जाता है। इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने भाषिक तुलना के आधार पर ऋग्वेद पर ऋग्वेद के 2 से 9 मंडलों को अधिक प्राचीन तथा 1 और 10 मंडलों को अपेक्षाकृत परवर्ती माना जाता है। अन्य वेदों का समय इसके बाद का माना जाता है। और वैदिक काल की समाप्ति 500 ई०पू० में मानी है।

ऋग्वेद छन्दोबद्ध है, अतः उसे **'छन्दस्'** कहा जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में पद्य के साथ-साथ गद्य अंश भी है, इससे प्राचीन गद्य का स्वरूप ज्ञात होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी गद्य में हैं, इनसे प्रचलित भाषा का स्वरूप ज्ञात होता है।

वैदिक संस्कृत किसी समय जनभाषा थी। यह मुख्यरूप से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थी। अतः समस्त प्राचीनतम संस्कृत वाङ्मय वैदिक संस्कृत में मिलता है। यथा–संहिताएँ, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि। इसके साथ ही लोकभाषाएँ भी प्रचलित रही होंगी, उनसे संस्कृत के विभिन्न रूप प्रचलित हुए। पाणिनि आदि ने इनको प्राचाम्=पूर्वी, उदीचाम्=उत्तरी आदि कहकर स्पष्ट किया है।

लौकिक संस्कृत– लौकिक संस्कृत को प्रायः **'संस्कृत'** ही कहा जाता है। संस्कृत में समस्त प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, कला, पुराण, काव्य, नाटक आदि हैं। इसका प्राचीन तथा आदि-काव्य वाल्मीकि रामायण है, जिसका समय 500 ई०पू० है। और तब से लेकर आज तक यह संस्कृत भाषा अपना गौरव स्थापित किये हुए है। यास्क, कात्यायन, पतञ्जलि आदि के लेखों से स्पष्ट है कि ईसापूर्व तक संस्कृत लोक-व्यवहार की भाषा थी।

वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर :

लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत का विकसित रूप है। अतएव दोनों में अनेक समानताएँ हैं। किन्तु व्याकरण, शब्दों और धातुओं की संख्या, रूप, स्वर आदि की दृष्टि से वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत से बहुत भिन्न है। इसी कारण लौकिक संस्कृत को नियमों में बाँध सकने वाले पाणिनीय व्याकरण के नियम वैदिक भाषा पर समग्र रूप से लागू नहीं होते हैं। संक्षेप में वैदिक और लौकिक संस्कृत के बीच अन्तर निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

1. **स्वरगत**–(i) वैदिक भाषा में स्वराघात का बहुत महत्व है, लौकिक संस्कृत में उसका अभाव है। किसी भी शब्द पर विशेष बल डालकर उच्चारण करना स्वराघात अथवा बलाघात है। तीन प्रकार के स्वर वैदिक वाङ्मय में मान्य है–उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। कण्ठ, तालु आदि सखण्ड स्थानों के ऊपर के भाग से जिस स्वर का उच्चारण होता है, वह उदात्त कहलाता है–**उच्चैरुदात्तः**। कण्ठ, तालु आदि सखण्ड स्थानों के नीचे के भाग से जिस स्वर का उच्चारण होता है, वह अनुदात्त होता है–**नीचैरनुदात्तः**। उदात्तत्व और अनुदात्तत्व - दोनों धर्मों का मेल जिस वर्ण में होता है, वह स्वरित होता है– **"समाहारः स्वरितः"**। इन उदात्तादि स्वरों का प्रयोग वैदिक भाषा में सर्वत्र होता है। इनके आधार पर ही वेद मन्त्रों का पाठ किया जाता है, और शब्द के अर्थ का निर्णय होता है। लौकिक संस्कृत में इस प्रकार के उदात्तादिस्वर-प्रयोग का अभाव है।

(ii) लौकिक संस्कृत में ह्रस्व और दीर्घ दो प्रकार के स्वर व्यवहृत होते हैं। इनमें क्रमशः एक और दो मात्रायें होती हैं। वैदिक संस्कृत में स्वरों के तीन प्रकार हैं–ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। प्लुत में तीन मात्राएँ होती हैं और स्वर को अधिक लम्बा करके उच्चारण किया जाता है। प्लुत को इस प्रकार लिखा जाता है–**आसी३त, विन्दती३**।

(iii) वेदों में 'ऌ' स्वर का प्रचुर प्रयोग है। परन्तु लौकिक संस्कृत में 'ऌ' स्वर लुप्तप्राय है।

2. **व्यञ्जनगत**–(i) वैदिक संस्कृत में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा दो व्यञ्जन अधिक हैं–'ळ' और ळह्'। दो स्वरों के बीच में आने वाला 'ड' 'ळ' हो जाता है। वही 'ड' यदि 'ह' के साथ आवे तो 'ढ' होकर 'ळह' होता है। यथा–'**इळा**' और '**साळ्हा**'। इन उदाहरणों में 'इ' और 'आ' के बीच में आने वाला 'ड' 'ळ' और 'ढ' 'ळह' हो गया है।

3. **सन्धिगत**–(i) वैदिक संस्कृत में सन्धियों के प्रायः वे ही नियम हैं, जो लौकिक संस्कृत में हैं। परन्तु वैदिक संस्कृत में उन नियमों का पालन उतना कठोर नहीं है तथा उनमें अनेक अपवाद हैं। यथा–'ए' और 'ओ' के बाद ह्रस्व 'अ' का पूर्वरूप होना चाहिये। किन्तु वैदिक संस्कृत में कहीं तो यह होता है और कहीं नहीं होता है। उदाहरणार्थ–ऋग्वेद-10/53/1–"**सोऽयमागात्**" और 10/109/1–'**तेऽवदन्**' में 'अ' का पूर्वरूप हुआ है। परन्तु ऋग्वेद 6/14/3–"**शिक्षन्तो अव्रतम्**" में नहीं हुआ है। कहीं पर एक ही शब्द में पूर्वरूप होने और न होने दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। यथा–ऋग्वेद–5/30/10–"**गावोऽनवन्त**" में 'गावो' के बाद 'उन' का पूर्वरूप हुआ और ऋग्वेद 6/28/1–"**गावोअग्मन्**" में नहीं हुआ है।

अनेक स्थानों पर सन्धियाँ नहीं होती और एक ही शब्द में दो स्वर निरन्तरता से मिलते हैं। यथा– **तितउ**, **प्रउग**, **गोओपशा**, **गोऋषीक** आदि शब्दों में सन्धि नहीं हुई।

विसर्ग सन्धि में अनेक अपवाद दृष्टिगोचर होते हैं। सन्धि करने के लिये विसर्ग का लोप हो जाता है। यथा- **"भूमिः + आददे = भूम्याददे - ऋग्वेद 10/6/10"**।

4. **शब्दरूप**–लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा में शब्द-रूपों की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है। एक ही विभक्ति के कई रूप तथा कभी-कभी विभक्ति का लोप भी दिखाई पड़ता है। लिंग, विभक्ति तथा वचन-व्यत्यय भी बहुत प्राप्त होते हैं। पाणिनि ने स्थान-स्थान पर इसी तथ्य का संकेत '**छन्दसि बहुलम्**' द्वारा किया है। शब्दरूपों की निर्माण--प्रक्रिया की दृष्टि से वैदिक और लौकिक संस्कृत में कतिपय अन्तर निम्न प्रकार हैं–

(i) वैदिक संस्कृत में प्रथमा बहुवचन में 'असु' और 'असस्' दो प्रत्यय जोड़कर रूप बनते हैं, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'अस्' प्रत्यय लगता है। यथा–

वैदिक संस्कृत	**लौकिक संस्कृत**
देवाः, देवासः	**देवाः**
ब्राह्मणाः, ब्राह्मणासः	**ब्राह्मणाः**

(ii) वैदिक संस्कृत में प्रथमा तथा द्वितीया द्विवचन में 'आ' और 'औ' दो प्रत्यय लगकर दो रूप बनते हैं, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'औ' प्रत्यय लगता है। यथा–

अग्ना, अग्नौ	**अग्नौ**
सयुजा, सयुजौ	**सयुजौ**

(iii) वैदिक संस्कृत में तृतीय एकवचन में ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का '**ई**' प्रत्यय लगकर रूप बनता है, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'आ' प्रत्यय लगता है–

सुष्टुती	**सुष्टुत्या**

(iv) वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन में 'एभिः' तथा 'ऐः' प्रत्यय लगकर दो रूप बनते हैं, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'ऐः' लगता है–

देवैः, देवेभिः — देवैः

पूर्वैः, पूर्वेभिः — पूर्वैः

(v) वैदिक संस्कृत में हलन्त वैदिक शब्दों के सप्तमी एकवचन में कहीं-कहीं विभक्ति का लोप हो जाता है, जबकि लौकिक संस्कृत में लोप नहीं होता है–

व्योमन् व्योम्नि, — व्योमनि

(vi) वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का नपुंसकलिंग में 'आ' तथा 'आनि' दोनों प्रत्यय लगकर दो रूप बनते हैं, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'आनि' प्रत्यय लगता है–

अद्भुता, अद्भुतानि — अद्भुतानि

विश्वा, विश्वानि — विश्वानि

(vii) इसी प्रकार क्रियापद के रूपों में अन्तर पाया जाता है। यथा वैदिक संस्कृत में वर्तमान काल के उत्तमपुरुष में 'मसि' तथा 'मः' दो प्रत्यय लगते हैं, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'मः' प्रत्यय लगता है।

मिनीमसि, मिनीमः — मिनीमः

स्मसि, स्मः — स्मः

(viii) वैदिक भाषा में सर्वनाम शब्दों के रूप लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक हैं: यथा–युष्मद् प्रथमा–त्वम्, यूयम्, यूवम्। तृतीया–एकवचनमें त्वा, त्वयाः द्विवचन में युववाभ्याम्। पञ्चमी एकवचन में त्वद्, युवद्,युष्मद्। षष्ठी-द्विवचन में युवोः। सप्तमी– एकवचन में त्वे, त्वयिः बहुवचन में युष्मे।

अस्मद्– प्रथमा–अहम्, वाम्, वयम्। द्वितीया–माम्, अवाम्, अस्मान्। चतुर्थी एकवचन मह्यम्, मह्य। सप्तमी बहुवचन–अस्मासु, अस्मे।

तद्– प्रथमा द्वितीया विभक्ति द्विवचन ता, तौ। तृतीया बहुवचन–तेभिः। सप्तमी एकवचन तस्मिन् सस्मिन्।

इदम्– तृतीया एकवचन अया, अनया।

अदस्– तृतीया एकवचन अमुया।

एनद्– षष्ठी द्विवचन–एनोः, एनयोः।

किम्– प्रथमा एकवचन नपुंसक लिंग–किम्, कद्। तृतीया बहुवचन--केभिः।

स्व–सप्तमी एकवचन–स्वे, स्वस्मिन्।

5. **धातुरूप और लकार**–धातुरूप लकारों के प्रयोग की दृष्टि से भी वैदिक भाषा लौकिक भाषा की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। वैदिक भाषा में रूपों की विविधता "कृ" धातु के उदाहरण से, जिसका प्रयोग बहुत अधिक हुआ है, देखी जा सकती है।

मूल धातु "कृ" है। इसके कुरु, करु रूप बनते हैं। करोति, कुरुते, अकरोत्, अकुरुतः आदि। "कृ" का कर रूप भी बनता है–अकरवम्, अक्रि, अकार्यम्,करिष्यति, अकरिष्यत्, कृधि, कर, करम, करसि, करसे, करिष्यः आदि। "कृ" को चकृ में भी परिणत किया गया है– चकार, चक्रे, चकरम्, अचक्रत्, चक्रिया, चकृवम, चक्राणः आदि। "कृ" को कृणु के रूप में भी लिया गया है– कृणोति, कृणुते, अकृणोत्, कृणु, कृणुष्व, कृणवत्, कृण्वानः आदि। "कृ" के अन्य रूप भी बनते हैं– क्रियते, कारयति, चिकीर्षति, चरिक्रत, करिक्रत् आदि।

धातु के इतने रूप लौकिक संस्कृत में नहीं मिलते हैं। इसके अतिरिक्त धातुरूपों व लकार की दृष्टि से वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में निम्नलिखित अन्तर है–

1. वैदिक संस्कृत में धातुओं के परस्मैपद और आत्मनेपद होने के सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं है। कोई भी धातु दोनों में प्रयुक्त हो सकती है। यथा–"गम्" धातु लौकिक संस्कृत में परस्मैपदी है, परन्तु वेद में गच्छति,

गच्छते और जगाम, जग्मे दोनों पदों के रूप हो सकते है। वैदिक संस्कृत में एक ही धातु में भ्वादिगण, अदादिगण तथा स्वादिगण के भी प्रत्यय लग सकते हैं।

यथा-कृ = करोति-कुरुतः - कुर्वन्ति

कृ 'करना' (स्वादिगण में) - कृणोति - कृणुतः-कृण्वन्ति

(तनादिगण में) - करोति-कुरुतः-कुर्वन्ति।

'भृ' भरणे- (भ्वादिगण में) - भरति-भरतः-भरन्ति

(जुहोत्यादिगण में)-बिभर्ति-बिभृतः-बिभ्रति।

2. वैदिक भाषा में लङ्लकार का प्रयोग किसी भी काल में हो सकता है, जबकि लौकिक संस्कृत में उनका प्रयोग भूतकाल में होता है। पाणिनि ने "छन्दसि लुङ् लङ् लिट्" अष्टाध्यायी 3.4.3 सूत्र द्वारा इस नियम को बताया है। यथा-"अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः" का अर्थ है कि आज यजमान होता अग्नि का वरण करता है। यहाँ वर्तमान काल में "अवृणीत" इस लङ् लकार का प्रयोग हुआ है।

3. लौकिक संस्कृत में10 लकारों का प्रयोग होता है, परन्तु वैदिक संस्कृत में लेट् लकार अधिक है। लेट् लकार का प्रयोग प्रायः भूतकाल में हुआ है। यथा-सविता धर्मं साविषत्। तारिषत्, जोषिषत्, पताति, जीवाति, भवाति, ईशै आदि क्रियाओं का प्रयोग वेदों में ही मिलता है। परन्तु अन्य अर्थों में भी लेट् लकार हो सकता है। पाणिनि ने लिङ् के अर्थ में 'लेट्' का विधान किया है-लिङर्थे लेट्-अष्टाध्यायी 6.4.7 ।

4. वेद में लिट् लकार के अनेक रूप दिखाई देते हैं। सामान्यतः इसका प्रयोग सामान्य भूतकाल में किया जाता है परन्तु वर्तमानकाल में भी इसका प्रयोग मिलता है। 'लिट्' के स्थान पर 'कानच्' "अग्निं चिम्यानः" और क्वसु-पषिवान् जग्मिवान् विकल्प से होते हैं।

5. लौकिक संस्कृत में लुङ्, लङ् और लृङ् लकारों के रूपों आदि में 'अ' जोड़ा जाता है। यथा-अकार्षीत्, अकरोत्, अकरिष्यत्। यदि धातु अजादि हैं, स्वरादि हुए तो उनमें 'आ' जोड़ा जाता है। यथा-ऐक्षिष्ठ, ऐक्षत, ऐक्षिष्यतः, परन्तु यदि 'आ' नहीं जोड़ना पड़ता। यथा-मा भवान् कार्षीत्, मा स्म करोत्। यह नियम वैदिक भाषा में नहीं माना जाता। 'लुङ्', लङ् और 'लृङ्' का प्रयोग विना 'अ' अथवा 'आ' जोड़े ही किया जाता है। यथा-जनिष्ठा उग्र सहसे तुराय। यहाँ 'जनिष्ठा' लुङ् का रूप है; परन्तु उसमें 'अ' नहीं जोड़ा गया है। 'मा वः सेत्रे परवीजान्यवाप्सुः'-यहाँ मा का प्रयोग होने पर भी 'अवाप्सुः' में 'अ' जोड़ा गया है। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि - अष्टाध्यायी - 6/4/75 ।

6. लौकिक संस्कृत में उपसर्ग क्रियापद के पहले जोड़े जाते हैं। वैदिक भाषा में यह नियम अनिवार्य नहीं है। वे क्रियापद के बाद भी जोड़े जाते हैं। कभी-कभी उपसर्गों और क्रियापदों के बीच शब्दों का व्यवधान भी होता है. यथा- 'हन्ति नि मुष्टिना' में नि हन्ति के बाद प्रयुक्त है। 'आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि' में आ याहि के बीच में व्यवधान है।

7. कृदन्त-वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत से विपरीत सोपसर्ग धातु से भी क्त्वा प्रत्यय जोड़ा जाता है। यथा-यजमानं परिधापयित्वा। क्त्वापि छन्दसि- अष्टाध्यायी-7/1/38 ।

8. प्रत्यय- वैदिक संस्कृत में 'के लिए' अर्थ में से, असे, कसे, अध्यै, शध्यै, तवै, त्वेन् प्रत्यय लगते, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल 'तुम्' प्रत्यय लगता है।

वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
जीवसे	जीवितुम्
पिबध्यै	पातुम्
कर्त्तवे	कर्त्तुम्

दातवै	दातुम्
गमध्यै	गन्तुम्

9. **वाक्य-विन्यास**– वाक्य-विन्यास की दृष्टि से भी वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत में कुछ भेद है। ऋग्वेद में संज्ञाओं के साथ श्रेष्ठता वाचक प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है, यथा–कण्वतमः – 1/48/4, मातृतमा– 3/33/3 और, कवितमः 7/9/1 । लौकिक संस्कृत में इन प्रत्ययों का प्रयोग विशेषणों के साथ ही किया जाता है। अनेक वाक्यों में एक ही अर्थ के द्योतक दो क्रिया विशेषणों का प्रयोग है। अनेक वाक्यों में क्रिया का प्रयोग नहीं है अथवा उनमें व्याकरण के अनुक्रम की कमी है। कुछ वाक्यों में पूरक सर्वनाम नहीं है। यथा–1/25/7 मन्त्र में 'यः' के बाद 'सः' सर्वनाम आना चाहिये था, वह नहीं है। अनेक स्थानों पर एक संज्ञा में संलग्न दूसरी संज्ञा दी गई है, जिससे रूपक ध्वनित होता है। यथा–1/113/8 में अग्निम् और अत्रिम् संज्ञाओं से अग्नि रूपी अत्रि अर्थ व्यक्त होता है।

10. **विशिष्ट शब्द**– वैदिक संस्कृत में अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं मिलता है–

वैदिक संस्कृत	**लौकिक संस्कृत**
दर्शत	(दर्शनीय)
दृशीक	(दर्शनीय)
अमूर	बुद्धिमान्
मूर	मूर्ख
अक्तु	रात्रि
अभीवा	रोग
रपस्	चोट

11. **शब्दार्थ**– वैदिक संस्कृत के अनेक शब्दों के अर्थ लौकिक संस्कृत में कुछ भिन्न हो गये हैं– यथा–

	वैदिक संस्कृत	**लौकिक संस्कृत**
अराति	कृपणता, शत्रुता	शत्रु
मृडीक	कृपा, अनुग्रह	शंकर का नाम
न	इव, समान	नहीं
अरि	ईश्वर	शत्रु
क्षिति	गृह, मनुष्य	पृथ्वी
वध	भयानक हथियार	मारना

12. **देवता**– वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त इन्द्र, वरुण, मरुत आदि देवता लौकिक संस्कृत में गौण हो गये हैं और उनके स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्रधान देव हो गये हैं। इनके अतिरिक्त कुबेर, लक्ष्मी, सरस्वती आदि कुछ नये देवता मान्य हो गये हैं।

वैदिक व्याख्या पद्धति - प्राचीन और अर्वाचीन

ऋग्वेद की भाषा अति प्राचीन है, अतः उसके मंत्रों के वास्तविक अर्थ का अनुशीलन करने में अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। विभिन्न युगों में आविर्भूत भाष्यकारों तथा उनकी व्याख्या विधियों में इतना अधिक अन्तर मिलता है कि वैदिक ऋषियों की अभिव्यक्ति के मूल अभिप्राय तक पहुँचना बहुत कठिन हो गया है। कुछ भाष्यकार यज्ञ-याग के अर्थ में मन्त्रों की इयत्ता मानते हैं, तो कोई उन्हें मानव-सभ्यता के विकास के विशिष्ट काल की झलक प्राप्त करने के लिए साधन रूप समझते हैं; कोई वहाँ अध्यात्मवाद की उदात्तता सिद्ध करते हैं, तो कुछ लोग उनमें ज्ञान-विज्ञान के मूल सूत्र खोजते हैं। प्राचीन भारत में भी वेदों के अर्थ को लेकर अनेक वाद प्रचलित थे, एक-एक शब्द की अनेक व्याख्याएं होती थीं। ऐसी स्थिति में **'वेद की व्याख्या-पद्धति'** स्वयं एक स्वतन्त्र अध्ययन-विषय बन गयी है।

वेद की व्याख्या-पद्धति को भारतीय तथा पाश्चात्य - इन दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। भारतीय पद्धति के अन्तर्गत प्राचीन तथा अर्वाचीन ये दो वर्ग होते हैं।

प्राचीन-व्याख्याकार

प्राचीन पद्धति वैज्ञानिक तथा याज्ञिक इन दो वर्गों में रखी जा सकती है। वैज्ञानिक पद्धति निरुक्तकार **यास्क** की है तथा याज्ञिक पद्धति से व्याख्या आचार्य **सायण** ने की है-

1. **यास्क** (700 ई.पू. **वैज्ञानिक व्याख्याकार**)- यास्क ने अपने निरुक्त के 14 अध्यायों में प्रायः 600 ऋचाओं की पूर्ण अथवा आंशिक व्याख्या की है। ये ऋचाएँ ऋग्वेद के विभिन्न स्थलों से वैदिक शब्दों के निगम-उदाहरण व प्रयोग दिखाने के क्रम में संकलित हैं। अपने समय में उपलब्ध समस्त साधनों का उपयोग यास्क ने एक वैज्ञानिक की तटस्थता का परिचय देते हुए इन व्याख्याओं में किया है। उनकी व्याख्या अत्यन्त संक्षिप्त है; जो बात स्पष्ट है, उसे अनावश्यक विस्तार नहीं दिया गया है। आवश्यकतानुसार यास्क ने इतिहास तथा समाज-विज्ञान को भी कहीं-कहीं अनावृत किया है। विश्वामित्र का नदियों से संवाद अथवा देवापि और शन्तनु की कथा इसके साक्षी हैं। यास्क ने अनेक दुरूह वैदिक शब्दों का निर्वचन शब्द तथा अर्थ - दोनों दृष्टियों से किया है। इससे तत्काल प्रचलित अर्थों और सम्प्रदायों का भी परिचय मिलता है। यास्क ने न्यूनतम 17 पूर्ववर्ती अर्थकारों के नाम लिये हैं, जिनके मत परस्पर विवादी थे। यथा-**'नासत्यौ'** अश्विनों का एक नाम है, जो यूनानी आख्यानों में दिओस्कुरी (Dioskuri) नामक देवता के रूप में है। उक्त शब्द को और्णवाय नामक आचार्य 'असत्य से रहित अर्थात् सदा सत्यपालक' के अर्थ में मानते थे। आग्रायण आचार्य 'सत्य को आगे बढ़ाने वाले' अर्थ में रखते थे। स्वयं यास्क सम्भावना करते हैं-**नासिकाप्रभवौ बभूवतुः**, निरुक्त 6/13। इन विभिन्न अर्थों के सन्देहवर्धक वादों से क्षुब्ध होकर ही सम्भवतः कौत्स ने यह कहा कि वेदों के अर्थ दुरूह, निरर्थक और परस्पर विरोधी है, इसलिए वैदिक व्याख्या का सारा कार्यक्रम व्यर्थ है- **अनर्थका हि मन्त्रः।** यास्क ने कौत्स के आक्षेपों का खण्डन किया है- **नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति, निरुक्त 1/16।**

2. **सायण**-(14वीं शताब्दी ई., **याज्ञिक व्याख्याकार**)- यास्क और सायण के मध्य दो सहस्र वर्षों का न्यूनतम अन्तराल है। इस अवधि में ऋग्वेद के अनेक भाष्यकार हुए जिनमें दो भाष्यकारों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं-स्कन्दस्वामी (7वीं शताब्दी ई.) तथा वेंकटमाधव (1100 ई.) इनका भाष्य अत्यधिक संक्षिप्त है किन्तु स्कन्दभाष्य कुछ विस्तृत है। इन भाष्यों में निरुक्त के साथ ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा अनुक्रमणियों की भी सहायता ली गयी है। सायण के भाष्य पर इन सभी पूर्ववर्ती ग्रन्थों और भाष्यों का व्यापक प्रभाव है।

सायण ने चारों वेदों पर भाष्य लिखे थे। ऋग्वेद की शाकल संहिता पर, शुक्ल यजुर्वेद की काण्व संहिता पर, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर, सामवेद की कौथुम संहिता पर और अथर्ववेद की शौनक संहिता पर सायण के भाष्य उपलब्ध होते हैं। चारों वेदों पर भाष्य लिखने के अतिरिक्त इन्होंने 13 ब्राह्मणों-आरण्यकों पर **'वेदार्थप्रकाश'** नामक भाष्य की रचना की।

सायण ने यज्ञों की दृष्टि से अपने भाष्यों को लिखा है। वेद का अर्थज्ञान केवल यज्ञ के अनुष्ठान के काम आता है-यह बात सायण की उक्तियों से प्रकट होती है। उनके मत में वेदों का प्रतिपाद्य विषय कर्मकाण्ड तथा देवताओं का आह्वान करना है। उनके अर्थ इसी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। इसीलिए पाश्चात्य वैदिक भाष्यकारों ने सायण को याज्ञिक भाष्यकार कहा है। वेदों के विषय को विज्ञान, कर्म, उपासना, ज्ञान - इन चार काण्डों में समझा जाता है, तथा इनमें तीन प्रकार के अर्थ -आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक कहे जाते हैं। सायण ने आधिदैविक-याज्ञिक अर्थों और कर्मकाण्ड को प्रधानता देकर व्याख्या की है। यथा-

> **चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।**
> **त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥**

उक्त मन्त्र में महादेव का वर्णन किया गया है। सायण ने महादेव को यज्ञ मानकर इनका अर्थ किया है- यज्ञ के चार सींग हैं- चार वेद, तीन पैर हैं - प्रातः, मध्य और सायं सवनः दो सिर हैं- दो हवन, सात हाथ हैं- गायत्री आदि सात छन्द। वह तीन तरफ से बँधा हुआ है- मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प से। वह वृषभ अर्थात् अभीष्ट को बढ़ाने वाला है और अत्यधिक शब्द करता है। वह महान् देव रूपी यज्ञ मनुष्यों के बीच में प्रवेश करता है।

इस प्रकार सायण ने मंत्रों की यज्ञपरक व्याख्या की है। जिन मन्त्रों में यज्ञपरक अर्थ नहीं बैटता, वहाँ सायण अद्वैत वेदान्त का आश्रय लेते हैं, यथा- पुरुष-सूक्त की व्याख्या में। सायण का भाष्य पाण्डित्य की पराकाष्ठा है, जिसमें भारत की समस्त शास्त्रीय परम्परा का समन्वय किया गया है। पुराण, इतिहास, स्मृति, कोश, निरुक्त, व्याकरण, कल्पसूत्र, ब्राह्मण, महाभारत आदि अनेक स्थलों से समुचित उद्धरण देकर सा णाचार्य ने अपने कथ्य को समर्थित किया है।

अर्वाचीन - व्याख्याकार

अर्वाचीन पद्धति में **वैज्ञानिक, परम्परावादी, आध्यात्मिक** तथा **पाश्चात्यमत समर्थक** - ये चार कोटियाँ हैं। पाश्चात्य व्याख्याविधियों में **परम्परावादी, भाषाशास्त्रीय** तथा **समन्वयवादी** ये तीन कोटियाँ हैं। इनमें परम्परावादी विधि वैसी होती है, जैसी अर्वाचीन भारतीय पद्धति में है। वैज्ञानिक पद्धति से व्याख्या स्वामी दयानन्द ने की है और आध्यात्मिक पद्धति से व्याख्या महर्षि महर्षि अरविन्द ने की है।

1. **स्वामी दयानन्द** और **वैज्ञानिक व्याख्या** - स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद की माध्यन्दिन-संहिता पर तथा ऋग्वेद के सातवें मण्डल के दूसरे सूक्त के दूसरे मन्त्र तक भाष्य लिखा था। उन्होंने वेदों की व्याख्या में यास्क को सबसे अधिक प्रामाणिक माना है। निरुक्त तथा व्याकरण के आधार पर ही उन्होंने सभी शब्दों को यौगिक अथवा योगरूढ़ मानकर वेदों की व्याख्या की है। उन्होंने वेदों में बहुदेवतावाद का खण्डन कर एकेश्वरवाद का समर्थन किया है। उनका कथन है कि वेदों में एक ईश्वर की स्तुति की गई है तथा इन्द्र आदि देवतापरक सभी नाम परमात्मा के अर्थ को व्यक्त करते हैं और परमात्मा की विभिन्न शक्तियों को बताते हैं। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि जो तथाकथित देवतावाचक शब्द हैं, वे सब यौगिक होने के कारण परमेश्वर के विविध पक्षों के बोधक हैं। स्वामी दयानन्द ने वेदों को ईश्वरकृत तथा नित्य माना है। उनके मतानुसार वेद के रूप में केवल मन्त्रभाग हैं, वही ईश्वर-वचन है, ब्राह्मण भाग वेद नहीं है, अपितु जीवोक्त वेदव्याख्या तथा कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है। वेदों में वर्णित विषय को चार भागों में बांटा जा सकता है - विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। वेदों के तीन प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं - आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। स्वामी दयानन्द के अनुसार वेदों में इतिहास नहीं है, किन्तु **ज्ञान-विज्ञान** के सभी सूत्र उनमें निहित हैं।

2. **महर्षि अरविन्द की आध्यात्मिक-व्याख्या-पद्धति**- महर्षि अरविन्द (1872-1950) अपने युग के अनुपम साधक, विद्वान् तथा ऋषि थे। उन्होंने वेदों पर 'On the Vedas' 'वेदरहस्य' हिन्दी अनुवाद-पुस्तक लिखी थी। ऋग्वेद के कतिपय अग्निसूक्तों का टिप्पणियों के साथ अंग्रेजी अनुवाद भी उन्होंने किया था। अरविन्द वेदों के विषय में अध्यात्मवादी दृष्टि अपनायी। उनके अनुसार वैदिक मन्त्रों के अर्थ हैं-

1. यज्ञ-याग में लगे व्यक्तियों के लिए स्थूल अर्थ तथा 2. अध्यात्मप्रवण व्यक्तियों के लिए सूक्ष्म अर्थ। सभी यज्ञ-विधानों में ये दोनों अर्थ समवेत हैं। इसीलिए यज्ञ भी बाह्य तथा आध्यात्मिक दो प्रकार के हैं। वेदार्थज्ञान के लिए किसी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं है। योग और तपस्या से पवित्र हृदय में वेदार्थ स्वयं स्फुरित होता है। उनके मतानुसार वेद का ऊपरी अर्थ ही प्रकाशित होता है, गूढ़ार्थ तो अध्यात्मदृष्टि से ही ज्ञात होता है। **अग्नि** के दो अर्थ हैं- **हवन-कुण्ड में प्रदीप्त अग्नि**। यह स्थूल अर्थ है। इसका सूक्ष्म अर्थ है-**हृदय में प्रदीप्त इच्छाशक्ति**। सूर्य स्थूल रूप से नभोमण्डल का प्रकाशक पिण्ड है, सूक्ष्म रूप से अन्तःप्रकाश और उच्च-ज्ञान का देवता है। इस प्रकार सभी देवता एक ओर भौतिक शक्ति के प्रतिनिधि हैं, तो दूसरी ओर परमात्मा की दिव्य शक्ति के अंग-रूप में मनोवैज्ञानिक तत्त्व के प्रतीक हैं। वैदिक यज्ञ वस्तुतः अग्नि के नेतृत्व में होने वाली आध्यात्मिक यात्रा के सूचक हैं। युद्ध का अर्थ है- आर्यों की उक्त यात्रा के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले अंधकार के विरुद्ध संघर्ष। गौ प्रकाश है, अश्व शक्ति है। अरविन्द की दृष्टि में वेद सिद्धों की वाणी है, वह अध्यात्मजगत् के रहस्यों का उद्घाटन करती है।

पाश्चात्य पद्धति - परम्परावादी व्याख्या

परम्परागत अर्थानुशीलन को प्रमाण मानकर यूरोपीय भाषाओं में ऋग्वेद का रूपान्तरण अनेक विद्वानों ने किया। इनका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है-

1. **विल्सन** Wilson (1784-1860)- होरेस हेमन विल्सन इन परम्परावादी पण्डितों में अग्रणी हुए। उन्होंने सायणभाष्य के अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी-गद्य में अनुवाद किया। इसका प्रथम खण्ड 1850 ई. में प्रकाशित हुआ तथा बाद में कुल छह खण्डों में ग्रन्थ पूरा हुआ। इस अनुवाद के कई संस्करण भारत में भी हुए हैं। विल्सन सायण का कट्टर अनुयायी था तथा वेदार्थ करने में उन्हें किसी भी पाश्चात्य विद्वान् की अपेक्षा अधिक समर्थ मानता था। उन्होंने अनुवाद सायणानुसार किया। इस अनुवाद में विल्सन ने कहीं-कहीं अपनी टिप्पणियाँ भी दी हैं। अपनी अन्य कृतियों के द्वारा विल्सन ने आधुनिक शोध-प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त किया है। उनके अनुवाद के प्रकाशन के समय तक कहीं भी सम्पूर्ण ऋग्वेद का प्रकाशन नहीं हुआ था।

2. **मैक्समूलर** Maxmuller (1823-1900)- मैक्समूलर ने 1849-74 में सायणभाष्य के साथ सम्पूर्ण ऋग्वेद का छह खण्डों में प्रकाशन किया तथा पचास भागों में पवित्र प्राच्यग्रन्थमाला के अन्तर्गत, पूर्व के धर्मों के समस्त साहित्य के अंग्रेजी अनुवाद का सम्पादन-प्रकाशन (1879-1900) किया।

मैक्समूलर भी परम्परावादी विद्वान् थे और सायण के अनुयायी थे। सायण के भाष्यों को वे 'अन्धे की लकड़ी' कहते हैं। सायण का समर्थन करने पर भी मैक्समूलर शुद्ध परम्परावादी नहीं है क्योंकि भाषाशास्त्र के आधार पर विकसित व्याख्या-विधि के स्वीकरणीय परिणामों का भी वे यथास्थान प्रयोग करते हैं। वेद की व्याख्या के उनके कुछ सिद्धान्त हैं।

मैक्समूलर का विचार है कि मानव जाति का वास्तविक इतिहास उसके धार्मिक विकास में निहित है और इस दिशा में भारतीय साहित्य अग्रणी है, क्योंकि धर्म का उद्‌भव तथा विकास भारतीयों के प्राचीन ग्रन्थों से अधिक स्पष्ट कहीं नहीं मिल सकता। वैदिक धर्म मूलतः प्रकृतिवादी था, किन्तु वैदिक ऋषि प्रकृति के बाह्य उपादानों के भीतर दिव्य, असीम तथा अतिप्राकृत तत्व को स्वीकार करके उसे देवता कहते थे तथा उसकी विशेष संज्ञा रखते थे। यथा- इन्द्र = इन्दु-बिन्दु, वर्षा करने वाला, रुद्र = गर्जनकारी, मरुत् = संघर्षशील, वरुण = सब को समेटनेवाला इत्यादि। एकदेववाद तथा बहुदेववाद के मध्य उन्होंने एक नया सिद्धान्त हिनोथीज्म (*Henotheism*) निकाला, जिसके अनुसार किसी भी एक देवता की महत्ता सर्वोच्चता अनुक्रम से स्वीकृत है। जिस देवता की स्तुति की जा रही है, उसे ही श्रेष्ट कहा जा रहा है, मानो अन्य देवताओं की सत्ता ही न हो। उनका यह सिद्धान्त संसार भर में चर्चित हुआ तथा इसका खण्डन भी किया गया।

भाषाशास्त्रीय-व्याख्या

19वीं शताब्दी के मध्य के बाद वेदार्थज्ञान में भाषाशास्त्रीय व्याख्याविधि बहुत प्रभावशाली रही है, क्योंकि इस पद्धति के निष्कर्ष तथ्यों पर आश्रित होने के कारण वैज्ञानिक हैं। इस प्रक्रिया को आधार मानकर वेदार्थ करने वाले विद्वानों का परिचय निम्न प्रकार है-

1. **रुडाल्फ रॉथ** Roth- वैदिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सर्वाधिक क्रान्तिपूर्ण कार्य करने वाले जर्मन विद्वान् रॉथ थे। इनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति संस्कृत महाकोश (Sanskrit Worterbuch, 7 vols, St. Petersburg, 1852-75) है, जिसमें वैदिक शब्दों की समीक्षा तो उन्होंने स्वयं की, किन्तु संस्कृत शब्दों पर टिप्पणियाँ भोतलिंक ने लिखीं। रॉथ ने वैदिक अर्थानुसन्धान के क्षेत्र में आगमन-विधि तथा ऐतिहासिक विधि का प्रवर्तन किया। उनकी मान्यता थी कि वेदार्थ ज्ञान के लिए वेद में प्रयुक्त किसी शब्द के विभिन्न स्थलों की छानबीन करने के बाद कोई निश्चित अर्थ निकल सकता है। प्रत्येक शब्द का अर्थ उसके विकास-क्रम के आधार पर दिया जा सकता है। उन्होंने ऋग्वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के बीच वृहत् काल-व्यवधान मानकर वेद का अर्थ करने में किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की सहायता लेना हास्यास्पद बताया, सायण जैसे भाष्यकार का तो उन्होंने सर्वथा बहिष्कार ही किया। उनके मतानुसार यदि भाषाशास्त्र की सहायता मिले, तो ऋग्वेद की ऋचाएँ स्वयम् अपना अर्थ देने में समर्थ हैं। इसी दृष्टि से रॉथ ने ऋग्वेद के उन सभी सन्दर्भों की तुलना की है, जो भाव और भाषा की दृष्टि से समानान्तर हैं; साथ ही प्रसंग, व्याकरण और निर्वचन पर भी उन्होंने ध्यान रखा। कहीं-कहीं परम्परागत अर्थों पर भी उन्होंने विचार किया। अवेस्ता तथा यूरोपीय भाषाओं के शब्दों के अर्थों की भी सहायता यत्र-तत्र उन्होंने ली है। यह साधन निश्चित रूप से परम्परागत व्याख्याकारों के पास नहीं था। इस प्रकार रॉथ ने वैदिक शब्दों की बहुत बड़ी संख्या को भाषाशास्त्रीय अर्थ से

समन्वित किया।

2. **ग्रासमान** Grassmann (1809-77) रॉथ के शिष्य तथा अनुयायी हरमन ग्रासमान की ख्याति ऋग्वेद पर महत्वपूर्ण कार्य करने के कारण है। इनमें प्रथम कार्य 'ऋग्वेद का शब्दकोश' है, जिसमें रॉथ के प्रदर्शित मार्ग से केवल ऋग्वेद संहिता के शब्दों का जर्मनभाषा में अर्थ किया गया है। इसी आधार पर उन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रों का पद्यानुवाद भी जर्मन भाषा में किया। दो खण्डों में यह अनुवाद लीपजीग से 1875 ई. में प्रकाशित हुआ।

समन्वयवादी-व्याख्या

रॉथ की भाषाशास्त्रीय पद्धति ने वेदानुशीलन में क्रान्ति अवश्य की, किन्तु भारतीय अर्थ-परम्परा का सर्वथा तिरस्कार भी वांछनीय नहीं है। अतएव फिर पाश्चात्य जगत् में समन्वयवादी पद्धति चली। जिन भारतीयों ने पाश्चात्य मत का अनुसरण किया, वे भी इसी पद्धति पर चले। इस क्षेत्र के कुछ प्रमुख विद्वान् इस प्रकार हैं–

1. **लुडविग** Ludwig (1837-1912) अल्फ्रेड लुडविग चेक जाति के प्राच्य-विद्याविद् थे। उन्होंने 6 खण्डों में ऋग्वेद का अनुवाद तथा व्याख्या प्रस्तुत की। प्रथम दो खण्डों में ऋग्वेद का जर्मन गद्य में अनुवाद है, तृतीय खण्ड में इस अनुवाद की विस्तृत भूमिका है, चतुर्थ और पञ्चम खण्डों में अनुवाद-भाग और मूल ऋचाओं पर जर्मन टीका है तथा षष्ठ खण्ड अनुक्रमणिका, विषय-सूची इत्यादि के रूप में है। लुडविग ने ऋत, ब्रह्म, सत्य, माया इत्यादि वैदिक शब्दों पर इस प्रसंग में विस्तृत विचार किये हैं। पाश्चात्य तथा पौरस्त्य मतों का समन्वय लुडविग की इस कृति में अत्यधिक विद्वत्तापूर्ण है। 1893 ई. में उन्होंने वैदिक साहित्य के क्षेत्र में तदवधि किये गये समस्त कार्यों का आकलन करके एक ग्रन्थ की रचना की।

2. **ग्रिफिथ** Griffith– ये अंग्रेज प्राच्यविद्या-विशारद थे, जिन्होंने चारों वेदों का अंग्रेजी पद्यानुवाद किया। यद्यपि अपने को रॉथ का अनुयायी तथा शिष्य मानते थे, तथापि सायण-भाष्य का अनुसरण भी अपने अनुवादों में इन्होंने पर्याप्त रूप से किया है। ऋग्वेद का अनुवाद चार खण्डों में 1889-92 ई. के बीच प्रकाशित हुआ था। बाद में इसे दो भागों में कर दिया गया। इसके अनेक संस्करण हुए हैं। इसमें स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ और सूचनाएँ दी गयी हैं। वेदों के अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण का भी पद्यानुवाद इन्होंने किया।

3. **ओल्डनवर्ग** Oldenberg (1854-1920)– मैक्समूलर के समान ओल्डेनबर्ग ने भी अनेक क्षेत्रों में काम किया है। यथा–बौद्ध साहित्य, वेद तथा सूत्र ग्रन्थ। मैक्समूलर द्वारा सम्पादित पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला के कई भागों में गृह्यसूत्रों तथा ऋग्वेद के अग्निसूक्तों का टिप्पणी-सहित अनुवाद ओल्डेनबर्ग ने ही किया। पुनः 2 खण्डों में 'ऋग्वेद पर टिप्पणी' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें ऋग्वेद के सूक्तों का व्याकरण तथा उच्चारण की दृष्टि से विस्तृत विवेचन है। दो खण्डों में वेद के धर्म पर एक ग्रन्थ लिखकर इन्होंने सिद्ध किया कि वेदों के कर्मकाण्ड को जाने बिना वैदिक धर्म का ज्ञान संभव नहीं हैं। ये दोनों ग्रन्थ जर्मन में ही है।

इनका विश्वास था कि वैदिक धर्म अनिवार्यतया भारतीय धर्म है और इसका ईरानी धर्म (पारसी) से निकट का, किन्तु भारोपीय धार्मिक परम्पराओं से दूरवर्ती सम्बन्ध है। ओल्डेनबर्ग का ऋग्वेद विषयक कार्य बहुत महत्त्व रखता है।

4. **गेल्डनर** Geldner (1852-1929)– कार्ल एफ. गेल्डनर का नाम जर्मन भारतीविद्या-विशारदों में ऋग्वेद के अर्थानुशीलन की दृष्टि से अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकृत है। रिचार्ड पिशेल के साथ मिलकर इन्होंने 'वैदिक अध्ययन' (Vedische Studien) नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें कई अव्याख्यात वैदिक मन्त्रों को स्पष्ट किया गया है। इनका दृढ़ मत है कि ऋग्वेद पूर्णतः भारतीय मेधा की सृष्टि है तथा इसे समझने के लिए परवर्ती भारतीय साहित्य का मनन भी आवश्यक है। एक प्रकार से ये 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' (महाभारत 1/1/267) इसमें विश्वास करते हैं। गेल्डनर का कथन है कि सायण किसी भी यूरोपीय विद्वान् की अपेक्षा वेदार्थ की अधिक समझ रखते थे। इस प्रकार रॉथ के विचारों के ठीक विपरीत गेल्डनर की धारणा थी।
हार्वर्ड ओरियंटल सीरिज में तीन खण्डों में 1951 ई. में गेल्डनर द्वारा किये गये ऋग्वेद का अनुवाद उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। इसकी अनुक्रमणिक भी 1957 ई. में एक पृथक् खण्ड के रूप में निकली।

5. **मैक्डॉनल** Macdonell– पाश्चात्य वेदज्ञों में आर्थर एन्थोनी मैक्डॉनल की प्रामाणिकता उत्कृष्ट कोटि की है। इनका समस्त कार्य वैदिक साहित्य पर ही है। वैदिक धर्म, वैदिक देवशास्त्र, ऋग्वेद के उषः सूक्त, बृहद्देवता का अनुवाद-सहित संस्करण-दो भाग, संस्कृत-अंग्रेजी कोश, संस्कृत साहित्य का इतिहास, वैदिक व्याकरण, वैदिक व्याकरण-छात्र संस्करण, वैदिक रीडर, भारत का अतीत इत्यादि इनके मुख्य ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में वैदिक रीडर भारत के विश्वविद्यालयों में सर्वाधिक लोकप्रिय पाठ्यग्रन्थ है। इसमें ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों से संकलित तीस सूक्त हैं, जिस पर लेखक का स्वतंत्र अनुवाद, टिप्पणी आदि हैं। इसकी भूमिका तथा शब्दकोश बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यत्र-तत्र इन्होंने अपने वैदिक व्याकरण के नियमों का संकेत भी इसमें किया है, अतः पूरक ग्रन्थ के रूप में यह ग्रन्थ भी अनिवार्य हैं। वैदिक शब्दों का अर्थ करने में मैक्डॉनल के मत का महत्त्व है।